ARYAVART SHODH VIKASH PATRIKA
RNI TITLED No. UPBIL04292
RNI REG. No. UPBIL/2014/66218
Vol-5, No.-II,PP-116-125, Issues-VI YEAR-Dec.2016

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में प्रतिरोध का स्वरूप

रेखा कुमारी
शोधार्थी, पीएच.डी., दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

स्वतंत्रता संग्राम के लम्बे संघर्ष के बाद दलित समाज ने अपनी सामाजिक स्थिति और अस्मिता को पहचाना। स्वयं की मुक्ति के साथ–साथ अपने समाज की मुक्ति की धारणा उनमें एक नया जोश भरती गई। यह वही चेतना की चिंगारी थी जो सदियों से दलित समाज महसूस तो कर रहा था पर सामाजिक दबाव के कारण उसको उजागर नहीं कर पा रहा था। डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फूले आदि के क्रांतिकारी विचारों और प्रयासों का ही परिणाम है कि दलित समाज स्वयं की मुक्ति चेतना में देखने लगा और जाग्रत कर पाया है। यही भाव की अभिव्यक्ति दलित साहित्य की इन विधाओं में देखने को मिलती है। ''दलित साहित्य के माध्यम से पहली बार वह सामाजिक यथार्थ सामने आया, जिसे दलित लेखकों ने स्वयं भोगा था।''[1] साहित्य के माध्यम से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। यह परिवर्तन वैचारिक स्तर पर बहुत लाभदायक होता है जिसके मूल में एक नए समाज को गढ़ना है, एक नए समाज की नींव डालना है। जातिगत तिरस्कार शारीरिक और मानसिक शोषण, आर्थिक विपन्नता आदि को चित्रित कर दलित साहित्य दलित समाज की समस्याओं से पाठकों को अवगत करा रही है। इसकी सर्वाधिक सफल अभिव्यक्ति, दलित आत्मकथा है।

दलित साहित्यकार अपनी आत्मकथाओं में, सामाजिक विरोध, शोषण के विविध रूपों, बेरोजगारी, धर्म के दोगले रूप, शिक्षा आदि सभी के क्षेत्र में स्वयं से होने वाले शोषण व बहिष्कारजन्य अनुभवों को अपनी लेखनी में स्पष्ट दिखाते हैं। सामाजिक भेदभाव के विविध रूप इन आत्मकथाओं में सर्वत्र दिखाई देती हैं। दलितों द्वारा अमानवीय जीवन जीने तथा यंत्रणाओं को सहने के बाद भी इनकी अदम्य जिजिविषा इस बात का प्रमाण है कि इन्होंने कभी हार नहीं मानी है जीवन से। अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से ये दलित समाज को आगे बढ़ते का सन्देश देते हैं। सही मायने में दलित आत्मकथाएँ बहुजन समाज का प्रतिनिधित्व करती है। इन सभी आत्मकथाओं में अपनी सांस्कृतिक परम्परा और सामाजिक अस्मिता के तलाश का प्रश्न दिखता है। साथ–ही लेखक अपनी आत्मकथा में समाज में मौजूद भेदभाव की गहराई से खोज करने का प्रयास करते हैं। ऐसा इसलिए है कि वे सामाजिक असमानता और अन्याय के खिलाफ विद्रोही चेतना के साथ परिवर्तन की मांग को लिए रहते है। यह उनके अस्मिता निर्माण के लिए उनका प्रयास है। ऐसा दलित साहित्यकार अपने अस्मिता के निर्माण में दलितोंत्थान के लिए प्रतिबद्ध की भावना से करता है। यह प्रतिबद्धता सम्मान के साथ जीवन जीने के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में स्वयं को पहचान देने के

लिए, समाज के दकियानूसी विचारों के कारण स्वयं के समाज को पिछड़ने से रोकने के लिए, धर्म के दोहरे रूप को सामने लाने के लिए तथा अन्धविश्वास से दूर रहने आदि विचारों को दलित समाज में स्वीकारने के लिए है। यही प्रतिबद्धता दलित आत्मकथाओं में हमें क्रमशः रूप से दिखाई देती है। जैसे मोहनदास नैमिशरण की 'अपने–अपने पिंजरे'–1 का एक अविस्मरणीय प्रसंग आता है जिसका वे उल्लेख करते हैं। धर्म के आलोक में दलित समाज सदा से पिछड़ा रहा है। हिन्दू धर्म में उनके लिए किसी भी तरह का कोई स्थान नहीं। लेकिन फिर भी दलित समाज धर्म के मायाजाल में पड़ा रहता है। जिससे उन्हें बचने की जरूरत है। लेखक बताते हैं कि उनकी बस्ती में जो मन्दिर है वहाँ दलितों का प्रवेश वर्जित है। प्रसाद के लिए यदि दलित बच्चे चले जाए तो मन्दिर का पुजारी उनको दूर से प्रसाद देता है वह भी बेमन से। यदि गलतीवश वे दलितों से स्पर्श हो जाते तो उनको मुंह भर–भर गाली दी जाती थी, जिसमें हिन्दू समाज और भी सहयोग देता था। ''पुजारी थाली में भरकर प्रसाद लाता था पर वह हमेशा ऊपर हाथ कर प्रसाद दिया करता था जिससे उसका हाथ हमसे छू न जाए। परिणामस्वरूप प्रसाद जमीन पर गिर जाता था जिसे हमें उठाना ही पड़ता था। न उठायें तो अगले दिन से प्रसाद मिलना बन्द। एक दिन प्रसाद देते हुए पुजारी की अंगुलियाँ मेरे हाथ से छू गई। बस पुजारी का पारा चढ़ गया। नाराज होते हुए वह झल्लाया– ''तू चमार का है ना सब कुछ भरस्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढ़ोरों से प्रसाद दूर से लिया करो।''[2] नैमिशराय ने इसका विरोध कर दलित समाज में एक आन्दोलन छेड़ा है। वे दलितों को इस तरह की घटनाओं का समाधान अपनी आत्मकथा में देते हैं। वे लिखते हैं, ''मेरे भीतर ज्वालामुखी उग आया था जिसने मुझे झिंझोरकर रख दिया था। मैंने आवेश में वही प्रसाद पुजारी के सामने थूक दिया था। ''थू, तुम्हारा मन्दिर और तुम्हारा प्रसाद....।'' कहकर मैं चला आया था। उस दिन के बाद में मन्दिर नहीं गया था। मन्दिर मुझसे मीलों दूर हो गया था जैसे।''[3] डॉ. अम्बेडकर ने मन्दिर प्रवेश के कालाराम मन्दिर आन्दोलन के दौरान दलितों को समझाते हुए कहा था कि मन्दिर, व्रत, पूजा जैसी बातों में व्यर्थ का समय गंवाने के बजाए दलितों को शिक्षा के लिए प्रयासरत होना चाहिए तभी उनका विकास होगा। धर्म के आडम्बरों में पड़कर उनका केवल शोषण ही हो सकता है, ''ए भारत के गरीबों, दलितों! तुम्हारा उद्धार इस बात में है कि तुम अपने हितों की रक्षा करने वाले काम करो न कि इस बात में कि तुम तीर्थयात्रा करते रहो या व्रत और पूजा में अपना समय गंवाते रहो। धर्मग्रन्थों के समक्ष माथा टेकते रहने से या उनके अखण्ड पाठ करते रहने से तुम्हारे बंधन, तुम्हारी आवश्यकताएँ तथा तुम्हारी निर्धनता कभी दूध नहीं हो सकती।''[4]यदि दलित समाज में धार्मिक आडम्बरों के प्रति लालसा खत्म हो जाए तो उनका शोषण मुश्किल हो जाएगा। धर्म की आड़ में ब्राह्मणवादी समाज सदियो से उनमें हीन भावना जगाता रहा है। दलितोत्थान तभी मुमकिन होगा जब वे धर्म के मकड़जाल में न फँसे।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में दलितोत्थान की प्रतिबद्धता का स्वर बहुत बुलन्द रहा है। यह प्रतिबद्धता जूठन में कई स्थानों पर दिखती है। दलित समाज में जूठन खाना सदियों से चला आ रहा है। इस परम्परा का विरोध दलित इसलिए नहीं कर पाये क्योंकि

ISSN NO. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 681/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

उनके पास सदैव धन का अभाव रहा है। जूठन पर जीवन बिताना दलितों की मजबूरी रही है। इसी घटना को जूठन में एक नए नजरिये से दिखाकर वाल्मीकि ने दलित समाज को प्रेरित किया है कि उन्हें अब घृणास्पद जीवन पर पलने की जरूरत नहीं इसी सन्दर्भ में आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी का कहना सटीक है, ''.... आत्मकथा 'जूठन' से गुजरना वस्तुतः उस समाज से गुजरना है, जिसमें घृणा वरेण्य है, शोषण नैतिक हैं, दमन जायज है, असमानता स्वीकृत है और अत्याचार का अन्तहीन सिलसिला है। इन सबको दार्शनिक आधार भी प्राप्त है। इसीलिए ये हमें कचोटते नहीं, इनका नैरंतर्य हमें गर्व का एहसास कराता है। इससे व्यवस्था की सनातनता पुष्ट होती है। 'जूठन' आत्मकथा इस सनातनता की पोल खोलती है, 'गर्व' को 'शर्म' में तब्दील कर देती है और दार्शनिक आधार के झूठेपन को बेपर्दा कर जाती है।''[5] महात्मा गाँधी और डॉ. अम्बेडकर की जूठन, मरे जानवर खाने जैसी कुप्रथा का विरोध करने की बात दलित समाज को कहते थे। जूठन खाने के कारण दलित समाज कभी भी आत्मसम्मान का जीवन नहीं जी सकता। जूठन न खाने की प्रतिबद्धता दलितोंत्थान में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसी का प्रसंग जूठन में है। लेखक बताते हैं कि सुखदेव सिंह की बेटी के विवाह के अवसर पर लेखक की माँ, लेखक और उसकी बहन के साथ जूठन लेने गए हुए। बारातियों के खा लेने के बाद लेखक की माँ ने भोज के बचे जूठन उठा लिये तथा सुखदेव सिंह से बच्चों के लिए एक पत्तल खाना माँगा। ''सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, ''टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है... ऊप्पर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन। ''...उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, ''इसे ठाके अपने घर में धर लें। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा...।'' हम दोनों भाई–बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे।''[6]

दलित समाज में शिक्षा का सदैव अभाव रहा है। यह अभाव उनकी बुद्धिहीनता व जड़ता के कारण नहीं, बल्कि ब्राह्मणवादी संकीर्ण सोच का परिणाम है। ब्राह्मणवादी समाज शिक्षा को अपने तक ही सीमित रखना चाहता था। जिसका परिणाम यह रहा कि दलितों में शिक्षा का कभी प्रसार नहीं हो पाया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि दलित समाज शिक्षा के प्रति जागरूक नहीं। महाभारत में मौजूद एकलव्य नामक पात्र इसका उदाहरण है। शिक्षा पाने की ललक दलितों को उनके हक के प्रति जाग्रत करती है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' के बालक में यह ललक दिखती है। शिक्षा पाने की प्रतिबद्धता से दलित समाज अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होता है जो दलितोत्थान में सहायक होगा। 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' का यह प्रसंग सभी दलितों के लिए प्रेरणा बन सकता है। ''पूरे घर–बस्ती में एक भी स्त्री–पुरुष या बच्चा मेरे निर्णय में मेरे साथ नहीं था। माँ, बहन, भाई भी असहयोग की भाषा बोल रहे थे। इस तरह में एकदम अलग–थलग पड़ गया था। तब मैंने अपने आत्मविश्वास के सहारे और बालबुद्धि के अनुसार आवेश में आकर अपने चुनौतीपूर्ण निर्णय की जोरदार घोषणा की थी– ''मैं पढ़ंगो, एक फेरा कोशिश जरूर करंगो। अगर दसवीं पास नाँय करि पाओ, तो हार मान लिंगो, पर बिना कोशिश करे तो नाँय मानगो। कोई मेरो संग्गु देउ या मत देउ। मैं एक–एक अक्षर के बदले अपने खून की एक–एक बूँद दे दुंगों पर पढ़नों नाँय छोड़ंगो। जो तुम सब मेरे खिलाफ हो तो मैं आप से चमरियाने में ही आना छोड़ि दिंगो। सोइ जाए करंगो। मास्टर जी के घर में। भाड़ में जाइ बिरादरी और चूल्हें में जाइ

घर–परिवार। मैं पढ़ूंगो, अपने बलबूते पै।''[7] डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि शिक्षा ही दलितों को संगठित व संघर्षशील बनने में मददगार साबित होगी। इसीलिए वे दलितों की शिक्षा में बराबर की भागीदारी चाहते थे। वे दलितों को उत्साहित करते थे कि वे सभी शिक्षा पर अपना अधिकार बनाये।

शोषक समाज जानता है कि दलित समाज में जब तक फूट है तभी तक उनकी सत्ता बरकरार है। दलितों की एकता ब्राह्मणवादी समाज के लिए खतरनाक है। इसीलिए शोषक समाज उनमें फूट डालकर उन्हें आपस में लड़वाते रहते हैं। इसी का परिणाम है कि दलितों में भी दलित खोजने की प्रथा चल पड़ी है और उन्हें अपने से हीन मानने की परम्परा प्रचलित हो रही है। जिसके कारण दलित समाज में साहचर्य व एकता का अभाव–सा रहने लगा है। दलितोत्थान के लिए सभी दलित साहित्यकार दलितों की एकता को उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। दलितों की एकजुटता पर उनके शोषण व अन्याय से छुटकारा निर्भर करता है, यह बात दलित समाज जानने लगा है। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' का यह प्रसंग इस बात का प्रमाण है। दलितों में यह चेतना प्रबल हो रही है कि उनकी एकता व प्रतिबद्धता दलितोत्थान को साकार कर सकती है। लेखक ने इसे बहुत अच्छे ढंग से दिखाया है, ''प्रभु, कल्लन, समरू, परसादी, लोटन और इतवारी सभी के सभी जाटव लट्ठ लेकर हमारे बनते घर के सामने खड़े थे। उन्होंने एक स्वर में मेरे पिता का नाम लेकर आवाज लगाई। पिता साथ में बनी कच्ची कुठरिया से निकल आए। मैं चन्दू डोकर के नीम के तने के पास रूक गया था जो हमारे घर से थोड़ी ही दूरी पर था। 'रोहन भैया, तु बना मकान हम देखते हैं तुझे कौन ससुरा रोकता है मकान बनाने के लिए।' प्रभु ने पिता के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा– ''ठाकुर तुमने हमें क्या खचेरा समझ रखा है तुम खचेरा हो ही तरह–तरह के लालच देकर बहका सकते थे, बहुत लड़ाया तुमने हमें आपस में। हम अपनी जिन्दगी जीना सीख गए हैं, अब हम तुम्हारी बातों में आने वाले नहीं....., अपना भला चाहते हो तो चले जाओ यहाँ से, वरना ठीक न होगा।''[8] दलितों की एकता प्रमाण है उनकी प्रतिबद्धता की जो सम्पूर्ण दलित समाज के उत्थान में सहायक साबित होगी जिसको दलित साहित्यकार बखूबी अपनी आत्मकथा में दिखा रहे हैं।दलित समाज में अन्धविश्वास, भूतप्रेत, जादू–टोना का सदियों से वास रहा है। निरक्षरता और अज्ञानता के कारण वे इन चीजों पर अटूट विश्वास करते रहे हैं। दलित आत्मकथाओं में अन्धविश्वास के कई उदाहरण मिल जाएंगे। आलोचक राजेन्द्र यादव की शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि, 'हर बिमारी, असफलता के पीछे कोई न कोई भूत है, उसका उपचार करने के लिए ओझा–सयाने है।' 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' के लेखक श्यौराज सिंह के पिता की मृत्यु भी भूत लगने से हुई। डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा मुर्दहिया में ऐसे कितने उदाहरण हैं जिसमें भूत–प्रेत, नागिन, चमरिया माई आदि आते हैं जो मुर्दहिया और दलितों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। लेखक इनके माध्यम से बताना चाहता है कि दलित समाज के पिछड़ने का एक बड़ा कारण इस तरह का अन्धविश्वास भी है। जिसके कारण दलित समाज न सिर्फ शारीरिक विकार से ग्रस्त है, बल्कि मानसिक रूप से भी पिछड़ने लगता है। स्वयं लेखक का माता निकलने (चिकनपॉक्स) के दौरान एक आँख खराब हो गई जिसके कारण वे अन्धविश्वास और उपहास के शिकार रहे। दलितोत्थान में अंधविश्वास आदि के प्रति इस तरह के प्रतिरोध की अत्यन्त आवश्यकता है। शिक्षित समाज में इस तरह की धारणा या अन्धविश्वास की कोई जरूरत नहीं। मुर्दहिया के माध्यम से तुलसीराम इस तरह के ढोंग की पोल खोलते हैं, ''अंधविश्वासों की कड़ी में हमारे घर की एक भाभी दुलरिया जो पहलवानी सीखने वाले 'गोकुल भैया' की पत्नी थीं और जो बबुरा धनहुवां गाँव के पास वाली चमरौरी से ब्याह कर आई थीं, एक तरह के मनोरोग से पीड़ित हो गई। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह

ISSN No. 2347-2944 ASVT Society Reg. No. 581/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 581/2013-14

तुरन्त ओझैती वाली भभूत मांगने लगती। उस समय पास के ही चतुरपुरा नामक गाँव में एक दलित और ओझैती करती थी। उसे लोग 'चमैनिया' के नाम से पुकारने लगे थे। लगभग हर रोज ही वह भभूत लाने को कहती। भभूत यानी अगियारी से बनी राख लाने का काम मुझे ही सौंपा जाता था। वह चमैनिया की भभूत खाते ही, कहने लगती कि पेट दर्द बन्द हो गया। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर उन्हें देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुराफात सूझी। मैं घर से शाम के समय भभूत लेने निकलता और मुर्दहिया के पास नटिनिया की झोंपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेटकर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहती कि पेट दर्द ठीक हो गया। इसके बाद में अनगिनत बार भभूत मांगने पर उस भाभी को नटिनिया की झोंपड़ी से राख ला लाकर देता रहा और वह ठीक होती रही। कभी–कभी तो मैं घर से ही राख लेकर इधर–उधर से घूमकर वापस आ जाता था, जिसे खाकर वह ठीक हो जाती थी।''[9] दलित लेखक इन्हीं सभी विकारों का प्रतिरोध कर रहे हैं। इनके बिना दलित समाज का मार्गदर्शन अधूरा है। दलित समाज में यह प्रतिबद्धता से ही आएगी।

दोहरा अभिशाप अगर दलित स्त्री के दोहरे शोषण के रूप में देखा जाए तो अधूरी बात होगी। यह तभी पूर्ण मानी जाएगी जब इस दोहरे शोषण के बीच से होते हुए हम स्त्री मान–सम्मान की बात देखें। स्त्री सशक्तीकरण का आन्दोलन किसी भी विरोध, शोषण या तिरस्कार के आगे नहीं झुक सकता। डॉ. अम्बेडकर स्त्रियों के स्थिति में सुधार लाना चाहते थे जिसका प्रयास वे 'हिन्दू कोडबिल' कानून लाने के माध्यम से करना चाहते थे। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा को प्रभावशाली बनाने की बात की। ज्योतिबाराव फूले और उनकी पत्नी ने प्रथम महिला विद्यालय खोलने की शुरूआत की, क्योंकि वे शिक्षा की एहमियत जानते थे। 'दोहरा अभिप्राय' में लेखिका की माँ शिक्षा की एहमियत पहचानती थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने सभी बच्चों को शिक्षा दिलाई। दलित स्त्री ही नहीं सभी महिलावर्ग आज अपने अधिकारों के प्रति जागरूक है। मोहनदास नैमिशराय का यह कहना सही है कि, ''कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा दोहरा अभिशाप के शब्दों की आँच के साथ एक दलित महिला के भीतर से उभरते आक्रोश और अस्मिता को भी महसूस किया जा सकता है।''[10] महिला दलित लेखिकाओं ने दलित स्त्री को एक नए नजरिये से दिखाया, जिसमें उनकी कर्मठता, कत्तव्यपरायणता, परिवार के प्रति समर्पण जैसी भावनाओं को सामने रखा। लेखिका की माँ, कमनी आत्या, झूला बाई, जाई बाई चौधरी और आजी सहित ऐसी कई महिलायें इस आत्मकथा में आई है जो दलित महिलाओं को जीने की राह देती चलती है। लेखिका की आजी का जीवन तो कभी न हारने वाली महिला के संघर्षपूर्ण जीवन की मिसाल है। दलित महिला समाज के उत्थान में सहायक सिद्ध होती जा रही है, यह उनके जागरूक होने के कारण है। स्त्री सशक्तीकरण का प्रबल उदाहरण लेखिका की आजी को मानना अति नहीं होगा। ये महिला दलितोत्थान में एक प्रेरणा बनकर पाठक के सामने आती है। आजी की यह महिला दलितोत्थान की प्रतिबद्धता सराहनीय है। लेखिका लिखती है, ''आजी हरदम कहा करती थीं कि वह अपनी लड़ाई खुद लड़ेगी, किसी पर बोझ नहीं बनेगी। अपने कफ़न का सामान भी वह स्वयं जुटाएँगी और उन्होंने अपनी बात पूरी करके दिखाई। कफन का सारा सामान उनकी गठरी में मौजूद था। यह मानिनी स्वाभिमान से रही, किसी के आगे नहीं झुकी।''[11]

दलित महिला लेखिकाओं में सुशीला टाकभौरे का नाम न सिर्फ उनकी रचनाओं के कारण है बल्कि उनका स्त्री सशक्तीकरण आन्दोलन में भी काफी योगदान है। स्त्री सशक्तीकरण आन्दोलन का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर बराबर दिखता है जिसका उदाहरण उनकी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' है। इसमें लेखिका ने अस्पृश्यता के अनुभवों के इतने सारे मार्मिक प्रसंगों को उठाया है।

जिसके रहते किसी भी दलित महिला का इतनी ऊँचाईयों तक पहुँच पाना काफी मुश्किल भरा सफर लगता है। लेखिका ने आत्मकथा के माध्यम से पाठकों को एक स्त्री द्वारा पितृसत्तावादी समाज से लबालब मानसिकता को न सिर्फ झकझोरने की कोशिश की है बल्कि एक नए नजरिये और नए समाज में स्त्री के विकास की पुर्नरचना को भी करने का प्रयास किया है। वह बताना चाहती है कि आज भी हमारा समाज स्त्री को उपेक्षिता की दृष्टि से ही देखता है। शुरूआत में लगता है कि यह आत्मकथा एक स्त्री के निजी जीवन के उतार–चढ़ाव का आख्यान है। मगर वास्तव में यह बहुआयामी व्यक्तित्व के निर्माण में स्त्री सशक्तीकरण का सफल उदाहरण है, यह दलित स्त्री का सशक्त स्त्री बनने के सफर से रूबरू होने का वृतान्त है। यह सफर मात्र एक स्त्री के पहचान बनाने तक तक सीमित नहीं बल्कि यह सफर पूरे स्त्री अस्मिता के सवाल से जुड़ जाता है। जिस कारण से यह आत्मकथा काफी सशक्त रूप में पाठकों के सामने आती है। यह प्रतिरोध है स्त्री का पितृसत्तावादी समाज की रूढ़ी मानसिकता के खिलाफ, जो मानता है कि ''लड़कियाँ चूल्हें का लूगड़ा (जलती लकड़ी) है। वही जले तो अच्छा है.... सामाजिक मानसिकता की यह भावना एक शिकंजा बनकर लड़कियों की प्रगति में अवरोधक रही है।''[12] लेखिका ने इस शिकंजे को तोड़ने का प्रयास किया है। समाज स्त्री के श्रम व संघर्ष को आज भी समानता के साथ स्वीकार नहीं करता। आज भी उन्हें अबला माना जाता है। जिसका परिणाम आए–दिन होने वाली घटनाएँ हैं जो समाज के पुरुषवादी संकीर्ण सोच को चरितार्थ करती है। धर्म व आदर्शों के नाम पर उनका शोषण होता रहता है। मगर इन सबके बावजूद लेखिका प्रतिरोध का दामन नहीं छोड़ती। लेखिका का स्पष्ट मानना है, ''सदियों से तिरस्कृत और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किये गए दलित जीवन की व्यथा–कथा का दर्द 'शिकंजे का दर्द' में समाहित है, 'शिकंजे का दर्द' लिखने का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।''[13] इन सभी दलित आत्मकथाओं में जाति–व्यवस्था, धर्म का आडम्बरीकरण, अन्धविश्वास, जातिभेद, अस्पृश्यता का यदि विरोध दिखाया गया है तो, शिक्षा के प्रति ललक, समाज के सुधार की भावना को ऊँचा स्थान भी दिया गया है। दलितों की चेतना उनमें प्रतिरोध की भावना जगा रही है। प्रतिरोध की यह भावना उनमें दलित समाज के उत्थान के लिए प्रेरित करती है। यह प्रतिबद्धता है दलितोत्थान का जो उनके साहित्य में सर्वत्र दिखता है। नैमिशराय ने ठीक ही लिखा है कि, ''भारतीय समाज में जाति व्यवस्था की कट्टरता के चलते एक बड़े तबके ने लम्बे समय तक अनेक तरह की असमानताओं का दंश झेला है, लेकिन जितना पुराना जाति व्यवस्था का इतिहास है, उतना ही पुराना इसके विरोध का भी इतिहास है। यदि विरोध केवल आध्यात्मिक या राजनीतिक स्तर पर ही नहीं हुआ बल्कि साहित्यिक स्तर पर भी हुआ है।''[14] दलित साहित्य दलितोत्थान की प्रतिबद्धता को सार्थक रूप में जनता के सामने लाने में दलित आत्मकथा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. कंवल भारतीय, दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ 124, इतिहास बोध प्रकाशन, III, संस्करण, 2004, दिल्ली
2. मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, तीसरा संस्करण 2006, दिल्ली, पृष्ठ 31
3. वही, पृष्ठ 32
4. संपादन सुभाष चन्द्र : अम्बेडकर से दोस्ती : समता और मुक्ति, साहित्य उपक्रम इतिहास बोध प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृष्ठ 1
5. बजरंग बिहारी तिवारी, 'कागद की लेखी का अंतर' लेख, हंस पत्रिका, 1997, दिल्ली
6. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पांचवा संस्करण 2011, पृष्ठ 21
7. श्यौराज सिंह 'बेचैन', 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009, दिल्ली, पृष्ठ 312

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 551/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

8. सूरजपाल चौहान तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन संस्करण 2002, पृष्ठ 47
9. तुलसीदास, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, दिल्ली, पृष्ठ 127
10. मोहनदास नैमिशराय, लेख 'दोनों गालों पर थप्पड़', आधुनिकता के आईने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन व विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ 237
11. कौशल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृष्ठ 29
12. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 17
13. वही, भूमिका से
14. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, भूमिका, साहित्य आकादमी, प्रथम संस्करण, 2011, दिल्ली